Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2021 GISRRJ | Volume 4 | Issue 2 | ISSN : 2582-0095

लोक कला की अविरल धारा

डॉ.संतोष बिंद
प्रवक्ता,
राजकीय बालिका इंटर कॉलेज,
हुसैनगंज, फतेहपुर, उत्तर प्रदेश, भारत।

Article Info
Volume 4 Issue 2
Page Number : 138-143
Publication Issue :
March-April-2021
Article History
Accepted : 02 March 2021
Published : 15 March 2021

सारांश–'लोक कलाएँ बाह्य विश्रृंखलाओं को तोड़कर देशकाल वर्ग जाति व धर्म के घेरे में न बँधकर सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक होती है। सार्वजनीन भावना की यह रसधारा किसी राष्ट्र तक सीमित नहीं रहती, अन्तर्राज्य व अर्न्तराष्ट्र की सभी प्रकार की आचार व सीमाओं को पार कर वह विश्व–मानव को एकसूत्र में पिरो देती है।
मुख्य शब्द– लोक, कला, भारतीय, जीवन, भावना, वर्ग, धर्म, धारा।

ब्रह्म के समान यदि भारतीय जीवन को चतुष्यात माना जाए, तो उसके एक पाद की प्रतिष्ठा वेद या शास्त्रीय चिन्तन में और त्रिपाद की अभिव्यक्ति लोक के क्रियाशील जीवन में पायी जाती है। अतएव भारतीय शास्त्र की व्यवस्था का सर्वोत्तम क्षेत्र यहाँ का वास्तविक लोक जीवन ही है। आज भी लोक जीवन का वार्षिक सत्र अनेकों मंगलात्मक विधानों व आचारों में सम्पन्न है। लोक से भरे हुए पर्व, उत्सव, लोकनृत्य, लोकगीतों, लोककथाएँ, व्रतों की कहानियाँ, अनेक व्रत और उपवास, देव मात्राएँ और मेले आदि से भारतीय संस्कृति अपना अमित स्पन्दन प्राप्त कर रही है।[1]

'जो लोको का प्रत्यक्ष दर्शन करता है, लोक जीवन में प्रविष्ट होकर स्वयं उसे अपने मानस चक्षु से देखता है, वही उसे पूरी तरह समझता–बूझता है। केवल पुस्तकस्थ विद्या से लोकतत्व का तल स्पर्शी परिचय प्राप्त नहीं किया जा सकता। साहित्य और लोकत्व ये एक ही जीवनरथ के दो चक्र हैं। दोनों के सन्तुलित विवेक से ही जीवन की व्याख्या की जा सकती है।'[2]

लोक शब्द अत्यन्त व्यापक है, लोकतत्व इसी में निहित है, लोक मानस, लोक प्रवृति, लोकाचरण, लोकमूल्य, लोक में व्याप्त हर्ष, उल्लास, लोकपर्व, कथाए लोकोत्सव, लोकभाषा, लोक कलाएं, लोकचित्र, लोकगीत, लोकनृत्य, प्रयुक्त उपयोगी वस्तुए, खिलौने आदि, इन्हीं सबके संयोजन से भारतीय लोक संस्कृति विकसित होती रहती है। उपरोक्त संस्कार ही लोक संस्कृति को निर्मित करते हैं। इन्हीं संस्कारों का अध्ययन लोकतात्विक अध्ययन है। 'लोक संस्कृति एक सृजनात्मक चिंतन है, इसी सृजनात्मकता के कारण यह सनातन होते हुए भी नित नूतन है।[3] मानव की सृजनात्मक प्रवृत्ति देशकाल के अनुसार सृजित होती है। परिस्थितियों के साथ लोक मूल्य बदलते रहते हैं

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

लोक कलाओं के माध्यम से लोक तत्वों का जीवन में संचार होता रहता है। सृष्टि में मानव की उत्पत्ति से अब तक हर्ष, उल्लास, प्रेम, सौहार्द, कल्याण की यह धारा निरन्तर प्रवाहमान है 'लोक कलाओं में एक धड़कती जिन्दगी है, एक आलौकिक रचना संचार है, और अलग रचना दृष्टि। सदियों से उपेक्षा का दंश झेलने के बावजूद अपनी मिट्टी और जमीन से जुड़ने का अहसास लोक कलाएँ कराती रही। अपने गढ़े, शास्त्र, पद्धति, प्रविधि और बुद्धि से शास्त्रीय मानसिकता के समानान्तर साँस लेती रहीं। बिना आत्मग्लानि के।'[4]

'लोक कला, राष्ट्र की संस्कृति है और हमारे जीवन का राग रंग है। वैदिक संस्कृति ने साहित्य के अन्तर्गत दो भाषाओं को निःसृत किया। एक संस्कृत भाषा और दूसरी लोक भाषा। संस्कृति ने, जहाँ हमारी साहित्यिक चेतना को दिव्य दृष्टि दी है वहीं लोक भाषा ने, उसमें सरसता की मधु मिठास घोली है। संस्कृत भाषा साहित्य ने यदि हमारे वाङ्मय को समृद्ध किया है तो लोक बोलियों ने भी अपनी बहुआयामी छवि से, उसके अंश में वृद्धि की है।

लोक कला के अन्तर्गत भी दो प्रकार की अनुभूतियाँ है। एक के अन्तर्गत परम्परा, रहस्यात्मकता और अतीत के संस्कार हैं। दूसरी वह जिसमें सामाजिक रीति–रिवाजों की प्रमुखता है। काव्य संगीत और चित्र शैलीगत लोक कला के यह रूप, हमारी ग्रामीण जनता की देन है, जो आज देशीय स्तर से अन्तर्राष्ट्रीय उँचाइयों को छू रहे हैं।'[5]

'लोक कला उतनी ही प्राचीन है जितनी पुरानी मानव सभ्यता। अत्यन्त पुरातन काल से ही मानव अपने हृदय की भावनाओं को रंग रेखा से आकार देकर उसे साकार करने का प्रयत्न करता रहा है। मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों को देखकर इस देश की आदिम निवासियों की गृह निर्माण तथा नगर निर्माण कला का परिचय प्राप्त होता है। अजन्ता तथा एलोकरा के भित्ति चित्र उन कुशल चित्रकारों की कला का दिग्दर्शन कराते हैं जिन्होंने अपनी तूलिका के द्वारा निष्प्राण चित्रों में भी जान डाल दी है चतुर तक्षणकारों ने अपनी छेनी के द्वारा बुद्ध तथा महावीर की पाषाण मइ मूर्तियों को जीवन प्रदान किया है।'[6]

'भारत की कोटि–कोटि जनता के जीवन में एक प्राण होकर यह 'लोक कला न जाने अतीत के किस स्वर्णिम बेला से हमारे उल्लासमय सम्बन्धों से जुड़कर हमारे साथ चलती आ रही है। बिना किसी अवलम्ब, आश्रय, प्रोत्साहन और प्रलोभन के, स्वतंत्र, स्वच्छन्द एवं सौम्य गति से वह निरन्तर आगे बढ़ती रही है, क्योंकि वह हमारे आंगनों की वस्तु रही है, अतः ममतामय तथा मधुर घरेलू सम्बन्धों की भांति उसकी अटूट एकता हमारे साथ बनी रही।'[7]

लोक कला एक सृजनात्मक अभिव्यक्ति है, जो सरल एवं स्पष्ट लोकमानस द्वारा रची जाती है तथा वादों के झमेले से दूर रहती है। लोककला को समझने के लिए कुछ परम्पराओं की जानकारी आवश्यक हो जाती है क्योंकि कला धीरे–धीरे एक स्थायी स्वरूप ग्रहण कर लेती है तथा कला का यह परम्परागत स्वरूप यथार्थ से दूर होता चला जाता है– लोक चित्रों का स्वरूप यद्यपि अनौपचारिक रूप से परम्पराओं द्वारा नियन्त्रित होता रहता है, तथापि चित्रकार अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा के कारण उसमें परिवर्तन लाते रहते हैं।'[8]

'लोक कला की रचना के स्रोत में लोक प्रवृत्तियों और लोक मान्यताएँ कार्य करती है। इनके प्रचलन का आधर लोकाचार है। लोककलाओं का उद्‌भव, लोक जीवन से हुआ है और उसके विकास तथा परम्परा का इतिहास भी लोक जीवन से जुड़ा है। सभी लोक कलाओं के स्वरूप एक जैसे नहीं होते, अपने अर्न्तरूपों और लोक सापेक्ष स्वरूपों में, कालावधि परिवर्तन के उपरान्त भी इसकी परम्पराएँ वही होती हैं जो लोक चेतना की अन्तर्धारा में प्रवाहित है। लोक जीवन की यह प्रवृत्ति परम्परा से उसकी विरासत में भी होती है। इस विरासत को पीढ़ी दर पीढ़ी संजोकर रखने की प्रवृति व्यक्तिगत न होकर, समूहगत होती है।'[9]

'लोक कला आधुनिक तड़क भड़क से दूर रहते हुए, पुराना स्वरूप होने पर भी सदैव नवीन बनी रहती है 'परम्परागत रूप से अनेक अभिप्राय लोक संस्कृति, व्यवहार, अनुष्ठान, विश्वासों और वातावरण में घुल मिल जाते हैं, उदाहरण के लिए देहात में कुम्हार पात्र व खिलौने गढ़ने की कला अपने पिता से ही परम्परागत रूप में प्राप्त करता है।'[10]

'संस्कृति के चार स्तम्भो धर्म, इतिहास, कला और लोकजीवन को समेटे हुए लोककला– परम्परा की धारा आगे बढ़ती है'[11] लोक जीवन में कला के विविध आयाम दृष्टिगोचर होते हैं, इसके पीछे कल्याण तथा समाज की उन्नति एवं विकास का भाव छिपा रहता है। लोक कला का विकास साधारण जन के घर, प्रांगण अथवा ग्रामीण अंचलों में बिना किसी प्रश्रय और प्रलोभन के होता जाता है।

'लोक कला के बारे में एक बात और महत्वपूर्ण है विभिन्न व्रत, उत्सव, पूजा तथा मांगलिक अवसरों पर घरों में बनाये जाने वाले चित्र जैसे हरछट, दीवाली या भैयादूज अथवा अन्य प्रकार की चौकें तथा अनेक ज्यामितिक डिजाइने न केवल अनुष्ठानों के अभिन्न अंग है, बल्कि लोगों के धार्मिक विश्वासों और उसकी मानसिक वृत्तियों के प्रतिनिधि भी है।'[12]

लोककला का क्षेत्र मुख्यतः ग्रामीण जनमानस है। ग्रामीण कलाकार अपने अन्तर की संवेदनाओं को जब चित्रों के माध्यम से साकार करने का प्रयास करता है तो वह अपने परिवेश लोक संस्कार तथा परम्पराओं का किसी प्रकार के दिखावे तथा आडम्बर का उसमें कोई स्थान नहीं होता चित्रों की तकनीक व माध्यम का प्रशिक्षण वह किसी शिक्षण संस्थान से नहीं पाता बल्कि परम्परा से सहज ही ग्रहण कर लेता है वह किसी सिद्धान्त व कलागत तत्वों के विषय में भी विचार नहीं करता। 'पारम्परिक लोक कलाकारों को शास्त्रीयता की जानकारी नहीं होती। अतः उसकी ये चेष्टाएँ अधिकांशतः बहुत भोली और रसीली होती है।'[13] 'वह ऐसे विचार या भावना की रचना करती है जो जानी पहचानी है, लोक जीवन का हिस्सा है तथा सहज और सुबोध है। इन्हीं कारणों से यह श्रेष्ठ मानी जाती है तथा दर्शक के मन में दिव्य व पवित्र भावना को जाग्रत करती है।'[14]

लोक चित्रकलाओं में जनसाधारण की आन्तरिक सृजनात्मक कला प्रवृति साकार रूप ग्रहण करती है, प्रकृति का यथार्थ रूप न होकर कल्पना तथा अनुभूती का इसमें समावेश होता है। परम्पराएँ तथा लोकमानस तथा उल्लासमय उन्मुक्त भाव ही चित्रों के विषय होते हैं लोक चित्रकार, कृति, माध्यम तथा तकनीकी दृष्टि से पूर्ण स्वतंत्र होता है। रेखाओं द्वारा रूपों का निरूपण सरल आकारों, चटक रंगों में होता है। 'लोक

चित्रकार अपने भावों को सीधी–साधी सरल रेखाओं द्वारा व्यक्त कर देत हैं। लोक चित्रों में रेखाओं की सरलता और सहजता सीधे–सीधे लोकमानस के स्वभाव की अभिव्यक्ति करती है। लोक चित्रकार अपने मन के भावों को कुछ इनी–गिनी रेखाओं से बहुत ही सहजता से व्यक्त कर देता है। वह कूंची के लिए प्रयोग में लाने वाली किसी भी वस्तु का जब तक रंग चुक न जाय तब तक उससे टूटी–फूटी, आडी, तिरछी अपने अनुकूल रेखायें खींचता चला जाता है और एक के बाद एक रेखाएँ उभरने पर चित्र आकृतियाँ बनती चली जाती है। वह अपनी रेखाओं को न कभी दोहराता है और न मिटाकर उसे फिर से बनाता है।'[15] लोककला के चमत्कृत कर देने वाले सरल, स्वतन्त्र अभिव्यक्तिकरण ने आधुनिक चित्रकारों को भी आकर्षित किया है।

'लोक कलाओं से हमारी इतनी निकटता एवं आत्मीयता है कि उसकी उपस्थिति को हम सभी जगह अनायास ही पहचान लेते हैं एक कलाकार से लेकर एक साधारण ग्रामवासी में लोककला के लिए समय अभिरूचि है। उसकी सरलता को दोनों समान रूप से अनुभव करते हैं क्या घर में क्या बाजार में है और क्या कला निकेतनों में– सर्वत्र ही सभी रूपों में, उसको हम पहचान लेते हैं, हमारे मन मानस पर उसकी लोकप्रियता की छाप अमिट रूप में बनी हुई है।'[16]

लोक कलाएँ सार्वभौमिक होती है सम्पूर्ण विश्व की लोककलाओं के मौलिक स्वरूप में कुछ न कुछ साम्य अवश्य देखने को मिलता है। यह सम्पूर्ण समाज को एक सूत्र में बांधने का महत्वपूर्ण कार्य करती है इसलिए इसका निर्वाह पीढ़ी दर पीढ़ी होता जाता है। लोक कला की जड़े लोक जीवन में इतनी गहराई से जुड़ी रहती है कि उसे इससे अलग करके देख पाना सम्भव नहीं है। 'रेखाओं की सरलता में संस्कारों के गूढ़ रहस्य छिपे हुए है। लोक चित्रकला प्राचीन संस्कृति को नवीन संस्कृति से मिलाने की भी एक कड़ी है सैकड़ों प्रकार की लोक कलाएँ सम्पूर्ण भारत में फलती फूलती देखी जा सकती है, जिनमें सृजनात्मकता के साथ दार्शनिकता भी दिखाई देती है उर्दू एवं फारसी कैलियोग्राफर की भाँति बिहार एवं झारखण्ड की कोहबर चित्रकार अपनी रेखाओं में एकरूपता, संगीत एवं सन्तुलन का निरूपण करती है, अन्तर आता है तो व्यैक्तिक दृष्टियों के कारण रूपगत एवं विषयगत ट्रीटमेन्ट में। यही नहीं चीनी, चित्रशैली की तकनीक एवं दर्शन से यहाँ साम्यता की जा सकती है। चीनी चित्रकला में पहाड़ 'सत्य' का प्रतीक है तो कोहबर में पक्षी 'स्वतंत्रता' का, चीनी चित्रण में 'बेर' प्रतिकूल परिस्थितियों में धैर्य का प्रतीक है तो कोहबर में खजूर 'पूर्णता' का प्रतीक है। लम्बी उम्र के लिए चीनी चित्रकार, देवदार के वृक्ष का चित्रण करता है, तो कोहबर में आम का वृक्ष जीवन भर साथ निभाने अथवा अटल सौभाग्य के साथ वंशवृद्धि को भी दर्शाता है।'[17]

सभी लोक प्रचलित प्रतीकों, मान्यताओं की शिक्षा हमारे संस्कारों तथा बुजुर्गों के संवादों में होती है, जो बातों में सहज ही भावी पीढ़ी द्वारा सहर्ष ग्रहण कर ली जाती है। 'कलाकृति के सौन्दर्य का वास्तविक आधार भोग तत्व है, जिसका आस्वादन मनुष्य अपनी स्वाभाविक सौन्दर्य चेतना द्वारा करता है। भोग का सम्बन्ध हमारी ज्ञानेन्द्रियों से है। इनमें रंगों का स्थान सर्वप्रमुख है। इसी से सुन्दर वस्तु देखने पर सबसे पहले उसके रंग ही प्रभावित करत हैं, जहाँ ये प्रत्यक्ष रूप से इन्द्रिय संवेग होकर आनन्द प्रदान करते हैं वहाँ इनकी कल्पना भी आह्लाद उत्पन्न करती है।'[18] इन्हीं कोमल सर्वग्राह्य और आनन्दित संवेगों की लोक–कलाकृतियों में उपस्थिति होती है।

'लोक कलाएँ बाह्य विश्रृंखलाओं को तोड़कर देशकाल वर्ग जाति व धर्म के घेरे में न बँधकर सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक होती है। सार्वजनीन भावना की यह रसधारा किसी राष्ट्र तक सीमित नहीं रहती, अन्तर्राज्य व अर्न्तराष्ट्र की सभी प्रकार की आचार व सीमाओं को पार कर वह विश्व–मानव को एकसूत्र में पिरो देती है। लोककलाओं में प्रयुक्त विभिन्न रंग एवं प्रतीक क्षेत्रीय होकर भी सार्वदेशिक होते हैं समसामयिक होकर भी सार्वकालिक होते है और वर्ग विशेष के होकर भी सर्वात्मक होते हैं।'[19] 'वस्तुतः लोक के जो मूलभूत मूल्य है, जो मूलभूत मंतव्य है, और जो मूलभूत जीवनचर्या प्रसंग है, वे जल्दी ही आपस में साझेदारी कर लेते है इसलिए इतर लोक प्रभावों की अन्विति को विभिन्न लोकांचलों में अनुभव किया जा सकता है।'[20]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. लोक जीवन में कला, डॉ0 हृदय गुप्ता (कला त्रैमासिक, अंक–33), पृ0सं0 05
2. लोकतत्व, डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल (भारतीय लोककलाओं के विविध आयाम, अयोध्या प्रसाद 'कुमुद'), पृ0सं0 16
3. लोक संस्कृति की अवधारणा, डॉ0 त्रिभुवन नाथ शुक्ल (भारतीय लोक कलाओं के विविध आयाम), अयोध्या प्रसाद 'कुमुद' पृ0सं0 36
4. बहुजन अर्थबोध की अभिव्यंजना, अजय जैतली (कला त्रैमासिक, अंक–35, ललित कला में दलित चेतना विशेषांक), पृ0सं0 08
5. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र एवं ललित कलाये, डॉ0 प्रेमा मिश्रा, पृ0सं0 94
6. भोजपुरी लोकगीतों में कला, डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय (सम्मेलन पत्रिका, कला अंक), पृ0 341
7. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र एवं ललित कलाये, डॉ0 प्रेम मिश्रा, पृ0सं0 92
8. वाराणसी जनपद की लोककलाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन, राम शब्द सिंह, (अप्रकाशित शोध ग्रन्थ)
9. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र एवं ललित कलाये, डॉ0 प्रेमा मिश्रा, पृ0सं0 93
10. लोक चित्रकला, परम्परा और रचना दृष्टि, श्याम सुन्दर दूबे, पृ0सं0 7, 8
11. सिमटा हुआ मानस, शुकदेव क्षोत्रिय (कला त्रैमासिक, अंक–28, 2002), लोक कला विशेषांक, पृ0सं0 30
12. लोक कला : एक सिंहावलोकन, भवानी शंकर शुक्ल (संस्कृति दर्शन, 1991, अंक–3, वर्ष 2), पृ0सं0 80
13. आम आदमी के लिए कला, सुरेन्द्र पाण्डेय (कला दीर्घा, अंक–12, वर्ष–6 पृ0सं0 16
14. लोक–कलाओं का सर्वांगीण साम्राज्य, वसुधा योगी कला त्रैमासिक, अंक–33, लोक जीवन में कला विशेषांक, पृ0सं0 15
15. बनारस की चित्रकला, डॉ0 एच0एन0 मिश्रा, पृ0सं0 231
16. भारतीय चित्रकला, वाचस्पति गैराला, पृ0सं0 249

17. व्यवसायिकता की देह में लोककला की आत्मा, डॉ0 वंदना शर्मा (राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध के प्रकाशन से) पृ0सं0 44 फोम वर्ड–08 4'' 8 5'' दिसम्बर 2008 लोक आर्ट एण्ड इट्स इम्पेक्ट ऑन मॉडर्न आर्ट)
18. विंध्य क्षेत्र की लोक चित्रकला, नन्दिता शर्मा, पृ0सं0 59
19. विन्ध्य क्षेत्र की लोक चित्रकला, नन्दिता शर्मा, पृ0सं0 50
20. लोक चित्रकला, परम्परा और चरनादृष्टि, श्याम सुन्दर दूबे, पृ0सं0 05